वर्चस्व की संस्कृति के बीच कृषक जीवन के संकट

डॉ. सरफराज अहमद
पीएचडी
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली

शोध सारांश :
प्रारम्भिक काल से ही भारतीय समाज का विकास एक कृषि आधारित समाज की शक्ल में हुआ है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि हमारी सामाजिक व्यवस्था का कृषि एवं भूमि व्यवस्था से गहरा रिश्ता है। हमारे देश में कृषि केवल रोजगार का ही साधन नहीं है, बल्कि हमारे जीवन संस्कृति का स्तम्भ भी है। अंग्रेजी शासन के दौरान अपनायी गई आर्थिक नीतियों ने भूमि संबंधों में काफी फेर- बदल किया। ब्रिटिश शासन के समय से ही किसान विद्रोह का एक लम्बा इतिहास रहा है, जो आज भी किसी-न-किसी रूप में बना हुआ है। जिस देश की बहुसंख्यक आबादी गाँवों में रहती है, उस देश के लिए आज़ादी व गुलामी का सीधा रिश्ता गाँवों में रहनेवाले लोगों व उनके पेशों से जुड़ता है। इसलिए भारत की आज़ादी का सीधा रिश्ता कृषि एवं कृषि से जुड़ी आबादी से था। आज़ादी के बाद भी ब्रिटिश उपनिवेश से जुड़े सामंत और पूंजीपतियों का प्रभाव स्वदेशी शासन पर कायम रहा, जिसके परिणामस्वरूप स्वतंत्र भारत में कृषक समाज एक बार फिर उपेक्षित होने लगा। भारत में कृषि संबंधों में लगातार चला आ रहा असंतुलन आज़ादी के बाद के भूमि सुधारों के उपायों से भी नहीं दूर हो पाया। भूमि संबंधों की इस विषमता ने नक्सलवादी आन्दोलन को जन्म दिया। यह आंदोलन आज़ादी के बाद किसानों की उपेक्षा एवं भूमि सुधारों के अपेक्षित परिणाम ना निकलने से जो मोहभंग पैदा हुआ उसकी अभिव्यक्ति है। भारतीय समाज में 'अन्नदाता' कहे जाने वाले किसानों द्वारा अपनाया गया हिंसक संघर्ष, और उसके कारणों को किसी भी तरह सही नहीं ठहराया जा सकता, और ना ही हिंसक संघर्ष कृषि से जुड़ी समस्याओं का अंतिम समाधान देने में सक्षम है, फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि नक्सलबाड़ी आंदोलन ने कृषि और उससे जुड़े किसान एवं उसकी समस्याओं को मुख्यधारा के विचार-विमर्श के केंद्र में ला दिया । इस आन्दोलन ने भारतीय समाज पर जो प्रभाव डाला, उसका यथार्थ चित्रण नब्बे के बाद के उपन्यासों में भी देखने को मिलता है।

बीज शब्द :
सामाजिक व्यवस्था, आर्थिक नीतियां, नवधनाढ्यों, नक्सलबाड़ी, उपनिवेशवाद, पूंजीपतियों, स्वदेशी शासन, जमींदारी उन्मूलन कानून, काश्तकार, भूमि-सुधार, बटाई, सामाजिक आंदोलन, भूदान आंदोलन, गाँधीवादी, वर्ग- संघर्ष, किसान आन्दोलन, भूमिहीन, नक्सलवादी आन्दोलन, शोषणवादी व्यवस्था, सामंतवाद, वर्चस्व की संस्कृति, सामंती वर्ग, सर्वहारा, मनीदार, आर्थिक असंतुलन, बटाईदार, मालगुजारी ।

हमारे देश की पहचान एक कृषि प्रधान देश के रूप में रही है। कृषि केवल पैसा कमाने का ही जरिया नहीं रहा, बल्कि इससे हमारा समाज, परिवार, रहन-सहन, राजनीति एवं सांस्कृतिक जीवन भी प्रभावित एवं नियंत्रित रहा है। हिन्दी साहित्य खासकर कथा- साहित्य में इसकी उपस्थिति देखी जा सकती है। प्रेमचंद के उपन्यासों में किसान जीवन की व्यथा-कथा का सम्पूर्ण इतिहास दिखता है। महात्मा गाँधी का मत है कि, "भारत गाँवों का देश है तथा भारत की आत्मा गाँवों में निवास करती है। स्वतंत्रताकालीन जनसंख्या के आँकड़े भी इसकी पुष्टि करते हैं जिनके अनुसार भारत की 85 प्रतिशत जनता गाँवों में रहती थी सिर्फ 15 प्रतिशत जनता ही शहरी थी ।"[1]

प्रारम्भिक काल से ही भारतीय समाज का विकास एक कृषि आधारित समाज की शक्ल में हुआ है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि हमारी सामाजिक व्यवस्था का कृषि एवं भूमि व्यवस्था से गहरा रिश्ता है।

हमारे देश में कृषि केवल रोजगार का ही साधन नहीं है, बल्कि हमारे जीवन संस्कृति का स्तम्भ भी है। अंग्रेजी शासन के दौरान अपनायी गई आर्थिक नीतियों ने भूमि संबंधों में काफी फेर- बदल किया। भू-सम्पत्ति परम्परा से चले आ रहे जमींदारो के हाथों से निकल कर उन सौदागरों, या यूं कहें कि नवधनाढ्यों के पास चली गई, जोकि शहर में रहते थे और गाँव के जनसामान्य के प्रति कोई सहानुभूति नहीं रखते थे। साथ ही इस दौर में साहूकारों, महाजनों, ठेकेदारों के रूप में बिचौलियों का एक वर्ग भी तैयार हो गया था। जमींदारों को प्राप्त इस अधिकार ने उन्हें एक ऐसी मजबूत स्थिति पर ला खड़ा किया, जिससे वे कृषि के साथ- साथ समाज के हर वर्ग पर अपना प्रभाव रख सके। इन अधिकारों ने जमींदारों को बेलगाम कर दिया। इस पूरी व्यवस्था ने भारतीय समाज को दो बड़े वर्गों में बाँट दिया- एक जमीनों के मालिको एवं दूसरे किसान। जमींदारों के अन्याय व शोषण ने किसानों के अंदर विद्रोह की आग भर दी। ब्रिटिश शासन के समय से ही किसान विद्रोह का एक लम्बा इतिहास रहा है, जो आज भी किसी-न-किसी रूप में बना हुआ है। 1967 में शुरू हुआ नक्सलबाड़ी आन्दोलन इसका एक जीवंत उदाहरण है।

जिस देश की बहुसंख्यक आबादी गाँवों में रहती है, उस देश के लिए आज़ादी व गुलामी का सीधा रिश्ता गाँवों में रहनेवाले लोगों व उनके पेशों से जुड़ता है। इसलिए भारत की आज़ादी का सीधा रिश्ता कृषि एवं कृषि से जुड़ी आबादी से था। अत: 15 अगस्त सन् 1947 में मिली ब्रिटिश उपनिवेशवाद से स्वतंत्रता से सबसे ज्यादा उम्मीद इसी कृषक वर्ग को थी; क्योंकि अब तक के शासन एवं उनकी नीतियों से सबसे अधिक शोषित व पीड़ित कृषक वर्ग ही था। आज़ादी के बाद भी ब्रिटिश उपनिवेश से जुड़े सामंत और पूंजीपतियों का प्रभाव स्वदेशी शासन पर कायम रहा, जिसके परिणामस्वरूप स्वतंत्र भारत में कृषक समाज एक बार फिर उपेक्षित होने लगा। रेणु ने अपने उपन्यास 'मैला आँचल' में कांग्रेस के बदलते चरित्र, जनविरोधी रुख तथा पार्टी में सामंतों एवं पूंजीपतियों के बढ़ते प्रभाव को चित्रित किया है। रेणु ने आज़ादी के बाद राजनीतिक दलों में दिनोंदिन बढ़ते नैतिक और सैद्धान्तिक खोखलेपन को भी उजागर किया है।

सामाजिक और आर्थिक जीवन में सकारात्मक बदलाव के प्रयास के रूप में सन् 1949 में सरकार ने जमींदारी उन्मूलन कानून लागू किया। "जमींदारी- उन्मूलन का अर्थ था करीब दो करोड़ काश्तकारों का भूस्वामी बनना।"[2] भारत जैसे देश में भूमि-सुधार का कानून केवल भूमि के संबंधों तक ही नहीं सीमित था, बल्कि इसका संबंध भारत की सामाजिक व्यवस्था से भी था। सरकार ने इस कानून की घोषणा जितनी सरलता से कर दी, उसका वास्तविक धरातल का प्रयोग उतना आसान नहीं था। सन् 1956 तक यह कानून भारत के ज्यादातर राज्यों में पास किया जा चुका था; परंतु इसे लागू करने में एक बड़ी समस्या भूमि संबंधी पर्याप्त आंकड़ों का अभाव था। "देश के विभिन्न हिस्सों में जिस प्रकार जमींदारी उन्मूलन कानून लागू किया गया, उसमें कुछ महत्त्वपूर्ण खामियाँ रह गयी। उदाहरण के लिए यूपी में जमींदारों को वे जमीनें अपने पास रखने की इजाजत दे दी गई, जिन्हें उन्होंने अपनी 'व्यक्तिगत खेती' घोषित की थी। इसके अलावा यूपी, बिहार और मद्रास जैसे राज्यों में 'व्यक्तिगत खेती' की कोई सीमा नहीं थी।"[3] जमींदारी उन्मूलन के समकक्ष व्यवहारिक समस्या यह भी थी कि कई क्षेत्रों में खेती बटाई पर देने का काम मौखिक तौर पर होता था, इसका कोई लिखित दस्तावेज़ तैयार नहीं किया जाता था। दूसरी समस्या, जमींदारों एवं राजस्व अधिकारीयों के मध्य साठगांठ की थी, जिसके कारण कानून को सही ढंग से लागू करना और भी मुश्किल हो गया। इसके परिणामस्वरूप भारत में भूमिहीनों की समस्या बनी रही जो कुल जनसंख्या का लगभग आधा हिस्सा है। जमींदारी उन्मूलन कानून और उसे लागू करने में जो कमियां थी उसका उल्लेख मिथिलेश्वर अपने उपन्यास 'माटी कहे कुम्हार से' में करते हैं। सरकार के भूमि सुधार संबंधी कानूनों की वास्तविकता के बारे में मिथिलेश्वर यह मानते हैं कि सरकार के लचर रवैये के नाते ही जमीन के विवाद उठ खड़े हुए हैं। भूमि संबंधों में चल रही इस समस्या का कारण बताते हुए मिथिलेश्वर कहते हैं- "सारी समस्या की जड़ हमारी सरकार है। कागज़ पर कानून बना देती है। लेकिन जमीन पर फैसला नहीं कराती। अब लोग एक- दूसरे से लड़े नहीं तो क्या करें ? जिस दिन सरकार चाह ले, ऐसी लड़ाई किसी गाँव में नहीं होगी।"[4]

सरकार द्वारा भूमि सुधार के लिए बनाए गए कानूनों के अतिरिक्त गाँधीवादी कार्यकर्ता आचार्य विनोबा भावे ने एक सामाजिक आंदोलन 'भूदान आंदोलन' के जरिए भूमि सुधार का प्रयास किया। यह आन्दोलन 1950 के दशक में सक्रिय

रहा। इसमें गाँधीवादी तकनीकों का प्रयोग किया गया। भूदानी कार्यकर्ता पैदल यात्रा करके गाँव- गाँव में जाते थे। गाँव में रहने वाले भूस्वामियों से अपनी कुल जमीन का छठा हिस्सा उन लोगों को दान देने को कहते थे, जिन लोगों के पास ज़मीनें नहीं थी। इस आन्दोलन के पीछे सरकारी मशीनरी तो काम नहीं कर रही थी; परन्तु इसे कांग्रेस पार्टी का समर्थन हासिल था। दान की गई ज़मीनों में एक हिस्सा ऐसा भी था जो कृषि कार्य योग्य नहीं था, या फिर किसी विवाद में फंसा हुआ था। "करीब 45 लाख एकड़ भूदान भूमि में से केवल 6 लाख 54 हजार एकड़ ही 1957 के अंत तक 2 लाख परिवारों के बीच असल में बांटी जा सकी ।"[5] शुरू- शुरू में विनोबा भावे के इस आंदोलन ने काफी उम्मीदे जगाई; परन्तु 1960 के बाद इस आन्दोलन का प्रभाव समाप्त होने लगा । इस आन्दोलन के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वानों का यह मानना है का यह आंदोलन एक प्रयास था वर्ग सहयोग के माध्यम से वर्ग- संघर्ष को रोकने का। इसके विपरीत कुछ विद्वानों का मत है कि इसने किसान आन्दोलन की धार को कुंद कर दिया। किसान आन्दोलन में जो संघर्ष की क्षमता थी उसे रोकने का काम किया। इस विवाद में गए बिना यह कहा जा सकता है कि भारत में भूमि सुधार के संबंध में यह आन्दोलन सफल नहीं हो पाया।

हिन्दी के नब्बे के बाद के उपन्यासों में भूदान आंदोलन के सभी पक्षों का चित्रण देखने को मिलता है। 'ढलान' उपन्यास में प्रेम कुमार मणि दिखाते हैं कि रानाबिगहा- पुरंदपुर गाँव में विनोबा भावे भूदान आंदोलन के लिए अपने कुछ साथियों के साथ आते हैं। पूरा गाँव मिलकर दो- तीन दिन तक भूदानी अतिथियों के स्वागत के लिए तैयारियाँ करता है कि कहीं अतिथियों के स्वागत में कोई कमी ना रह जाए। पूरे गाँव के सामने यह तथ्य उपस्थित होता है कि सारे-के-सारे भूदानी सादगी के नाम पर ऐसे भोजन की मांग करते हैं, जोकि इतने कम समय में गाँव वालों के लिए पूरा कर पाना असंभव है। इसी विषय को लेकर भूदानी अतिथियों एवं गाँववालों के बीच वाद-विवाद हो जाता है। एक भूदानी उग्र होकर बोलता है- "गाँव के लोग हमें ज़हर खिलाएँगे, तब हम जहर तो नहीं खाएँगे ना ।"[6] भूदानी द्वारा यह कहे जाने पर मिस्त्री जी का क्रोध और तीखा हो गया । प्रति उत्तर में मिस्त्री जी कहते हैं- "भले आदमी, यही आप लोग गाँवों की सेवा कर रहे हैं, मत कीजिए गाँव की सेवा; इतना खराब ख्याल है गाँव के लोगों के बारे में तब सेवा क्या कीजिएगा। कौन किसको जहर खिला रहा है ? जहर खाने की कूबत है आपकी? ज़हर खाते हैं शिव। आप लोग क्या है, यह नहीं जानता लेकिन शिव नहीं है इतना जानता हूँ ।"[7]

रामधारी सिंह दिवाकर 'अकालसंध्या' में विनोबा भावे के भूदान आंदोलन का वर्णन करते हैं। यह घटना उपन्यास में 'फ्लैश बैंक' में आती है। इस उपन्यास में एक कोना ऐसा भी है, जो विनोबा भावे को कोई महान व्यक्ति या क्रांतिकारी नहीं मानता। "हर राग में बेसुरा कहे जाने वाले मरकसवा गाँव के लिए भूदान यज्ञ महज एक मज़ाक था। मरकसवा के करमलाल गुरु जी ही नहीं, दूसरे कई लोग कह रहे थे कि क्रांति को भटकाने का यह भयानक प्रतिक्रियावादी रास्ता है ।"[8] विनोबा भावे द्वारा चलाए गए भूदान आंदोलन में जिन लोगों ने भूमि दी, उनका कोई ह्रदय परिवर्तन नहीं हुआ था, बल्कि उन्होंने यश कमाने के लिए अपनी उन जमीनों को दिया जिसका उनके पास कोई इस्तेमाल नहीं था। बहुत बड़े स्तर पे तो नहीं, लेकिन कुछ भूमिहीन मजदूरों का इससे फायदा अवश्य हुआ। जब इन मजदूरों ने जी-तोड़ मेहनत करके जमीन को खेती के लिए उपयोगी बनाया, तो चन्द्रानन बाबू जैसे भूस्वामियों को अपनी दान की हुई जमीन आँखों में चुभने लगी। "पचीस- तीस साल बाद यही दान में दी गई जमीन अद्योगति को प्राप्त बूढ़े चन्द्रानन बाबू की छाती पर मूंग दलने लगी। इधर पांच- छह सालों से हर फसल- कटाई के समय मार- पीट का जो सिलसिला चल रहा है और जिस तरह भूदान के पुराने यज्ञ- कुण्ड में घी डाला जा रहा है, उससे लगता है भूदनियाँ जमीन खून से लाल होगी। गलत नहीं कहते लोग । भूदनियाँ जमीन नहीं, खूनिया जमीन ।"[9]

भारत में कृषि संबंधों में लगातार चला आ रहा असंतुलन आज़ादी के बाद के भूमि सुधारों के उपायों से भी नहीं दूर हो पाया। भूमि संबंधों की इस विषमता ने नक्सलवादी आन्दोलन को जन्म दिया। इसकी शुरुआत 23 मार्च सन् 1967 ई. में पश्चिम बंगाल के नक्सलबाड़ी क्षेत्र में कृषकों के सशस्त्र विद्रोह से हुई। यह आंदोलन आज़ादी के बाद किसानों की उपेक्षा एवं भूमि सुधारों के अपेक्षित परिणाम ना निकलने से जो मोहभंग पैदा हुआ उसकी अभिव्यक्ति है। भारतीय समाज में 'अन्नदाता' कहे जाने वाले किसानों द्वारा अपनाया गया हिंसक संघर्ष, और उसके कारणों को किसी भी तरह सही नहीं ठहराया जा सकता, और ना ही हिंसक संघर्ष कृषि से जुड़ी समस्याओं का अंतिम समाधान देने में सक्षम है, फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि नक्सलबाड़ी आंदोलन ने कृषि और उससे जुड़े किसान एवं उसकी समस्याओं को मुख्यधारा के विचार- विमर्श के केंद्र में ला दिया। आखिर

सवाल यह पैदा होता है कि किसानों ने हिंसक संघर्ष का सहारा क्यों लिया ? लम्बे विदेशी शासन के बाद आज़ाद भारत की सरकार ने किसान जीवन में बदलाव के लिए एवं भूमि संबंधों में सुधार के लिए जो कानून बनाए वह पहले तो स्वयं आधे- अधूरे थे, उनके क्रियान्वयन में भी काफी ढीला- ढाला रवैया रहा। कानूनों को लागू करने के बाद सरकार ने इसे अपनी उपलब्धियों में तो गिन लिया, परन्तु वास्तविक धरातल पर शोषणवादी व्यवस्था में कोई खास बदलाव नहीं हुआ। किसानों द्वारा शुरू किया गया यह नक्सलबाड़ी आंदोलन बहुत तेज़ी से पूरे देश में फैला। इस आन्दोलन के समर्थन में बंगाल राज्य के छात्रों, बुद्धिजीवियों तथा समाज के अन्य वर्गों ने अपना सहयोग दिया। इस आंदोलन ने चली आ रही सामंतवादी व्यवस्था को कड़ी चुनौती दिया। "1970 के मध्य और 1971 के बीच कुल 4000 हिंसक घटनाएँ हुई जिनमें 3500 पश्चिम बंगाल में, 220 बिहार तथा 70 आंध्र प्रदेश में हुई।"[10] इस आन्दोलन को आज़ाद भारत का सबसे बड़ा जन विद्रोह कहा जा सकता है; क्योंकि "भारत सरकार के गृह मंत्रालय ने माना है कि 9 राज्यों के 6 जिलों में नक्सलवाद फैला है। इन राज्यों के नाम हैं आंध्रप्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा, छत्तीसगढ़, झारखंड, उत्तरप्रदेश और पश्चिम बंगाल। मंत्रालय ने यह भी स्वीकार किया है कि पीपुल्सवार और एमसीसीआई अपना प्रभाव तमिलनाडु, कर्नाटक और केरल में भी फैलाने की कोशिश कर रहे हैं और कई नये इलाकों में इसका विस्तार हुआ है ।"[11] इसकी वजह है आज़ादी के बाद भी इन इलाकों में मौजूद आर्थिक विषमता एवं जीवन की न्यूनतम: सुविधाएँ भी सरकार द्वारा ना मुहैय्या कराना। इस दशा में अत्याचारों व शोषणों से मुक्ति के लिए गरीबों ने खुद ही बंदूक उठा कर संघर्ष किया। गरीबों के इस संघर्ष को हमारी शासन व्यवस्था ने समस्या मानकर इनके दमन का प्रयास किया। 'ऑपरेशन थंडर' और 'ऑपरेशन ग्रीन हंट' शासन के दमन के प्रयास के उदाहारण हैं ।

इस आन्दोलन ने भारतीय समाज पर जो प्रभाव डाला, उसका यथार्थ चित्रण नब्बे के बाद के उपन्यासों में भी देखने को मिलता है। इस आंदोलन से गाँव की तस्वीर बदल गयी, जिसके प्रभाव को कथा-साहित्य में देखा जा सकता है। रामधारी सिंह दिवाकर ने 'अकालसंध्या' में कृषि संबंधी संघर्ष- भूमिहीन किसानों एवं जमींदारों का सजीव चित्रण किया है। मरकसवा गाँव अपने आप में सामंतवाद विरोधी चेतना को लिए हुए है। "बड़ी मेहनत से शिवराज बाबू ने चार-पांच गाँव के भूमिहीनों को एकजुट किया। लगातार डेढ़- दो साल वे इसी संगठन के काम में लगे रहे। आखिर एक रात बाबू हरिवंश सिंह के गैरमजरुआ जमीन पर भूमिहीनों ने कब्ज़ा जमा लिया। सैकड़ों झोपड़ियाँ खड़ी हो गयीं रातों-रात।"[12] सामंतवाद के खिलाफ गरीब मजदूरों की यह सफलता इस गाँव की पहली सफलता थी। जमींदारों ने जमीनों पर अपने कब्ज़े को बनाए रखने के लिए सवर्ण सुरक्षा दल व रणवीर सेना जैसे सशस्त्र सेनाओं की स्थापना की, ताकि संघर्ष की स्थिति में लोहा लिया जा सके। भूमिहीनों ने अपनी सुरक्षा एवं अधिकारों के लिए 'लाल सेना' का सहयोग लिया । रामधारी सिंह दिवाकर ने 'अकालसंध्या' में रणवीर सेना व सवर्ण सुरक्षा दल के संबंधों एवं क्रिया-कलापों को कुछ इस प्रकार चित्रित किया है, "फतेपुर- पीठौरा में भूमिहारों की रणवीर सेना से सवर्ण सुरक्षा संगठन का सीधा तालमेल है । बड़े किसानों की सुरक्षा के लिए गया- जहानाबाद की रणवीर सेना की शाखा के रूप में काम करता है सवर्ण सुरक्षा संघ । इस संघ को तमाम सवर्ण जातियों का समर्थन प्राप्त है ।"[13] यदि सवर्ण जातियाँ सशस्त्र संगठन बना कर भूमिहीनों, गरीब किसानों, मजदूरों के अधिकारों का हनन करेंगी तो शोषित वर्ग के पास सशस्त्र विद्रोह के अलावा कौन सा रास्ता बचता है।

वर्चस्व की संस्कृति और कृषि संबंधी संघर्ष का दूसरा मामला बिदेसर और बाबू सुरवंश शर्मा के बीच का है । इस संघर्ष का इतिहास बाबू सुरवंश शर्मा के विवाह से जुड़ता है । विवाह में 'बड़ी मालकिन' के साथ पांच दासियाँ आयीं थी, उनमें से बाबू सुरवंश शर्मा की सबसे चहेती थी रतनी । रतनी को इन्होंने दान में तीन एकड़ जमीन दी थी । अपनी आदतों और एय्याशियों के कारण जमीन बिकती रही, तो एक दिन बाबू सुरवंश शर्मा को, "उस तीन एकड़ जमीन में फसलों की हरियाली उनकी आँखों में गड़ने लगी । यह जमीन पचीस-तीस साल पहले वे अपनी रखैल रतनी को दे चुके थे । जमीन की रजिस्ट्री नहीं हुई थी, लेकिन रतनी और उसका पति रामटहल और बाद में उसकी बेटी रमपतिया और दमाद बिदेसर जमीन को जोत रहे थे ।"[14] इस जमीन को हथियाने की बाबू सुरवंश शर्मा ने हर मुमकिन कोशिश की । लठैतों को भेजकर सुरवंश बाबू ने अगहनी फसल लूट ली । इस घटना के बाद बिदेसर 'लाल सेना' में शामिल हो गया । जवाबी कार्यवाही में 'लाल सेना' बाबू सुरवंश शर्मा के खलिहान से पन्द्रह- सोलह बोरे गेहूँ उठा लायी । यह घटना बाबू साहब के लिए काफी अपमानजनक थी । मारे जाने के डर के कारण जहर का घूँट पी गए, लेकिन अंदर गुस्सा उबलता रहा ।

रमपतिया और बिदेसर के लहलहाते धान की फसल देखकर पुराना जख्म फिर ताजा हो गया । सुरवंश बाबू ने हवेली में बिदेसर को बुलवाकर लठैतों से खूब पिटवाया । हाथ-पैर टूट जाने के बाद गाँव वाले उसे अस्पताल ले गए । बड़ी मालकिन अस्पताल पहुँच कर दुख व्यक्त करती हैं, और इलाज का पूरा खर्च भी उठाती हैं । अस्पताल से रमपतिया और बिदेसर को अपने हवेली में लाकर रख लेती हैं । रमपतिया बड़ी मालकिन की इस सहृदयता पर मुग्ध होती है, तभी उसे सहदेव समझाता है, "भौजी, तुम नहीं जानती बड़ी मालकिन को! उस वर्ग के चरित्र को तुम नहीं जानती जिस वर्ग की है बड़ी मालकिन । साँप का बच्चा साँप ही होता है भौजी । तुमको बड़ी मालकिन ने मोह लिया है । दांव-पेच तुम समझ नहीं रही हो ।"[15] दरअसल बड़ी मालकिन रमपतिया की मदद नहीं कर रहीं थीं, बल्कि उस तीन एकड़ जमीन पर कब्ज़ा करने के लिए यह एक कूटनीति थी । गाँव के कमजोर वर्गों का साथ 'लाल सेना' दे रही थी, तो सुरवंश बाबू की सुरक्षा कवच बड़ी मालकिन बनी हुई थीं । कजरी के समझाने पर रमपतिया बड़ी मालकिन की इस चाल को समझ पाती है, और एक दिन रात में मौका देखकर वह अपने पति के साथ हवेली से निकल भागती है। अपनी जमीन पर हक और दावे के लिए रमपतिया, कजरी, सहदेव और 'लाल सेना' की मदद से, "पचीस- तीस लोगों के साथ सुरजमुखी के सूखे पौधे काटने के लिए रमपतिया अपने खेत की मेड़ पर खड़ी थी । कजरी के हाथ में तेज धार वाला हसुँआ था। कजरी और रमपतिया उगते सूरज की ओर मुहँ किए हवेली के परकोटे को देख रही थीं।.... दो आकृतियाँ साफ- साफ दिख रही थीं । एक आकृति पुरुष की थी, दूसरी स्त्री की । थोड़ी देर बाद दोनों आकृतियाँ एक-दूसरे से जुड़ी हुई प्रतीत होने लगीं ।"[16] इस उपन्यास में उपन्यासकार ने सामंती वर्ग चरित्र को बड़े यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया है, साथ ही सर्वहारा की शक्ति को भी पहचाना है । संघर्ष के कारणों एवं प्रभावों का सफल विश्लेषण प्रस्तुत किया है ।

मिथिलेश्वर ने 'माटी कहे कुम्हार से' में कृषि में वर्चस्व एवं उसके संघर्ष को यथार्थ रूप में चित्रित किया है । बजरंगपुर गाँव बड़े खेतिहरों का है । इस गाँव में यह खेतीहर सवर्ण जाति के वर्चस्वशाली लोग हैं । ज्यादातर लोग शहरों में रहते हैं, और अपनी खेती 'मनी' पर दे रखा है । मनीदार खेती करता है और उपज का तय हिस्सा भू-स्वामियों के पास चला जाता है ; परन्तु खेत पर वर्षों से मेहनत करने के बावजूद भी मनीदारों का कोई अधिकार नहीं है । शुरू- शुरू में तो यह सब शांतिपूर्वक चलता रहा; परन्तु बाद के दिनों में कृषि भूमि को लेकर आर्थिक असंतुलन ने असंतोष को जन्म दिया । पहली घटना मुकुट सहाय के साथ होती है ।[17] उनके खेत पर मनीदर के रूप में काम करने वाले लोग उनकी हत्या उस वक्त कर देते हैं, जब वह गाँव से खेती का हिसाब-किताब करके शहर जा रहे थे। दूसरी घटना बजरंगपुर के नन्दकिशोर सिंह के साथ घटी। नन्दकिशोर सिंह जमीन से जुड़ी और जमीन अर्जित करने वाली दबंग जाति के थे । नन्दकिशोर का पूरा परिवार शहर में रहता है । परिवार के लगभग सभी पुरुष सरकारी नौकरी से जुड़े हैं । सालों से नन्दकिशोर सिंह गाँव आकर 'मनी' ले जाया करते थे । इनका मनीदारों से विवाद जमीन को बेचने को लेकर खड़ा हुआ । जब नन्दकिशोर बाबू ने जमीन बेचने का आग्रह किया और उन्होंने कहा, "जब तक हमने तुम्हें दिया था, तुमने खेती की । अब हम स्वयं खेती करेंगे । बस, यही बताने तुम्हारे पास आए थे ।"[18] जगतराम ने उन्हें रोकते हुए कहा, "खेती बेचने की बात छोड़ दीजिए प्रोफेसर साहेब! जइसे अब तक चलता आ रहा है चलने दीजिए ।"[19] जगतराम की यह बात सुनकर प्रोफेसर साहब तैश में आ जाते हैं । मनीदार का खेत मालिक के प्रति यह व्यवहार उन्हें अपमानजनक मालूम पड़ता है । जगतराम खेत छोड़ने से साफ इंकार कर देता है । जगतराम के इस तेवर के पीछे का राज उनको पता चलता है कि, "वे पिछड़ों के लीडर बने हैं । रात में उनके यहाँ जमावड़ा लगता है । इलाके के सभी लड़ाकू पिछड़े जुटते हैं । हथियार भी उन सबों ने जुटा रखा है । वे अइसे ही नहीं फौक रहे हैं । लड़ने की तैयारी कर चुके हैं.....।"[20] सरकार द्वारा बनाए गए कानून के मुताबिक यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे के खेत पर मनीदार, बटाईदार या अन्य किसी तरीके से लम्बे समय तक खेती करता है, तो खेती के कुछ हिस्से पर उसका भी अधिकार बनता है ; परन्तु गाँव की दबंग जातियों ने इस कानून को भी अपने तरीके से निबटा दिया । वे खेती किसी से भी कराते हैं; परन्तु मालगुजारी की रसीद स्वयं कटवाते हैं, ताकि भविष्य में क़ानूनी रूप से मनीदार कभी दावा ना पेश कर सके । "यह ठीक है कि सीधे जगतराम के नाम पर रसीद नहीं कटती, खेत मालिक के नाम से ही कटती । लेकिन पैसा जमा करवाने की जगह 'वास्ते जगतराम' करके रसीद तो वह कटवा ही लेता । इस तरह खेत जोतने का उसका दावा बन जाता । लेकिन प्रोफेसर साहेब ने चतुराई की है अब सवाल कानूनी लड़ाई का नहीं, जमीन पर की लड़ाई का है।"[21] गाँव में बाबू नन्दकिशोर की जाति के लोग खड़ी फसल काट लेने की

सलाह देते हैं; परंतु नन्दकिशोर सिंह पुलिस बल की सहायता से अपनी जमीन पर कब्जा करने का प्रयास करते हैं । गाँव में पुलिस की मौजूदगी एवं तनावपूर्ण स्थिति ने पूरे गाँव को अगड़े- पिछड़े के हिसाब से गोलबंद कर दिया। उधर नन्हटोली ने अपने राजनैतिक व बढ़ते हुए प्रशासनिक दब-दबे से पुलिस दल को गाँव से वापिस करवा दिया । पुलिस के एक बड़े अफसर ने बजरंगपुर में आयी पुलिस को वापिस बुला लिया । पुलिस दल के वापिस जाने के बाद जमीन की रक्षा के लिए सवर्ण ने जो भू सेनाएँ बनायी थीं, नन्दकिशोर सिंह उसकी मदद लेते हैं । परंतु उनका यह प्रयास भी असफल हो जाता है ; क्योंकि, "दूसरे दिन बड़ टोली में कई पर्चे मिले । शायद नन्हटोली वाले रात में आकर छींट गए थे । सेना के आगमन से वे अवगत हो चुके थे और उनकी सम्भावित कार्यवायी की भनक भी उन्हें लग गयी थी । उसी की प्रतिक्रिया में उन्होंने यह विस्फोट किया था । पर्चे में मोटे-मोटे अक्षरों में साफ- साफ लिखा था- इस पर्चे से हम आप लोगों को आगाह कर रहे हैं कि नन्हटोली पर हमले की बात आप भूल जाए । हम सिर्फ नन्हटोली तक सीमित नहीं है । ईंट का जवाब पत्थर से देंगे । हम यह बता देना चाहते हैं कि नन्हटोली पर हमला होते ही पूरी बड़टोली को बमों से उड़ा देंगे...हमारी भी सेना तैयार है....अंजाम भोगने के लिए तैयार रहें । भूमिहीन सेना, बजरंगपुर ।"[22]

निष्कर्ष:-

उपन्यासों में चित्रित वर्चस्व और उसके खिलाफ संघर्ष की कहानी काफी लम्बी है। संघर्ष एक तरफ अपने मान- मर्यादा के साथ जीने- खाने के अधिकार का है, तो दूसरी तरफ अपनी शक्ति व प्रभुत्त्व को बनाये रखने का। मनीदारों का परिवार खेती में मेहनत करके अपना खून और पसीना उगाता है। शहरों में बैठे भूस्वामी जो कभी खेत में कदम तक नहीं रखते वे हिस्सा बाँट कर ले जाते हैं। ग्रामीण परिवेश का दलित, भूमिहीन, खेतिहर मजदूर जब संगठित होकर अपने अधिकार के लिए उठ खड़ा होता है, तो वर्चस्वशाली वर्ग उसको दबाने के लिए और अधिक ताकत जुटा कर आक्रमण करता है। कृषि व्यवस्था में सुधार एवं कृषक समाज के जीवन में न्यायपूर्ण संतुलन स्थापित करने के लिए सरकार प्रयत्नशील है, परन्तु कृषि संबंधी समस्याएँ एवं उस पर टिका हुआ सामाजिक जीवन जटिल ताने- बाने में उलझा हुआ है। इन समस्याओं का समाधान सरकार द्वारा प्रगतिशील कानूनों एवं कृषि में आधुनिक तकनीकों के समावेश से ही सम्भव है।

संदर्भ:

1. यादव, रामजी, भारत में ग्रामीण विकास, अर्जुन पब्लिशिंग हॉउस, संस्करण-2005, पृष्ठ संख्या-188
2. चंद्र, बिपन, आज़ादी के बाद का भारत (1947-2000), हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, द्वितीय संस्करण- 2000, पृष्ठ संख्या- 496
3. वही , पृष्ठ संख्या – 497
4. मिथिलेश्वर, माटी कहे कुम्हार से, भारतीय ज्ञानपीठ, पहला संस्करण 2006, पृष्ठ संख्या– 273
5. चंद्र, बिपन, आज़ादी के बाद का भारत (1947-2000), हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय,
6. दिल्ली विश्वविद्यालय, द्वितीय संस्करण- 2000, पृष्ठ संख्या- 517
7. मणि, प्रेमकुमार, ढलान, वाणी प्रकाशन, संस्करण-2000, पृष्ठ संख्या– 83
8. वही, पृष्ठ संख्या – 83
9. दिवाकर, रामधारी सिंह, अकालसंध्या, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2007, पृष्ठ संख्या-64
10. वही, पृष्ठ संख्या– 65
11. भारत में नक्सलबाड़ी आन्दोलन, योजना, फरवरी, 2007, पृष्ठ संख्या– 12
12. रामधारी सिंह दिवाकर, अकालसंध्या, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2007, पृष्ठ संख्या- 62
13. वही, पृष्ठ संख्या– 72
14. वही, पृष्ठ संख्या– 185
15. वही, पृष्ठ संख्या- 231
16. मिथिलेश्वर, माटी कहे कुम्हार से, भारतीय ज्ञानपीठ, पहला संस्करण 2006, पृष्ठ संख्या-267
17. वही, पृष्ठ संख्या- 281- 82
18. वही, पृष्ठ संख्या– 105
19. वही, पृष्ठ संख्या– 125
20. वही, पृष्ठ संख्या– 115
21. वही, पृष्ठ संख्या– 347